पुस्तक-भवन-सीरीज़-९

राजारानी

रवि बाबू के नाटक का अनुवाद

अनुवादक-

मुरारिदास अग्रवाल
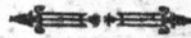
प्रकाशक-

पुस्तक-भवन,

बनारस सिटी

सं० १६२६ [मूल्य ॥।)
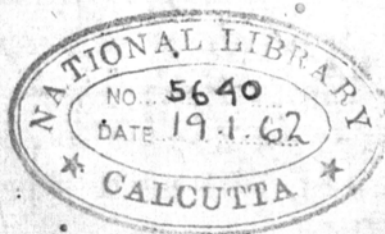
दो शब्द

बंगला साहित्य में रवि बाबू के ' राजारानी ' नाटक का जो स्थान है, वह बंगभाषा-भाषियों से छिपा नहीं है । बहुत दिनों से हमारी इच्छा थी कि रवि बाबू की इस उत्कृष्ट रचना का रसास्वादन बँगला भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी-भाषी जनता को भी कराया जाय। हमारी यह अभिलाषा आज पूरी हुई। इससे बढ़कर हमारे लिये आनन्द की दूसरी बात हो नहीं सकती । यदि हिन्दी-जगत इसका यथोचित आदर कर अपने को लाभान्वित कर सका, तो हमारा यह आनन्द और भी बढ़ जायगा। हमें यथेष्ट उत्साह मिलेगा ।

अनुवाद की पांडुलिपि हमारे पास बहुत दिनों से रखी थी। अनेक कारणों से इसके छपने में इतनी देर हुई। इसका हमें खेद है । बँगला के गानों का हिन्दी में पद्यानुवाद करना बहुत ही कठिन है। हमने इस संबंध में सफलता प्राप्त करने की बड़ी चेष्टा की, पर पूरी सफलता मिल न सकी। अगले संस्करण में हम कुल गानों का हिन्दी पद्यों में सफलता-पूर्वक अनुवाद कराने की पूरी कोशिश करेंगे। पुस्तक बहुत जल्दी में छपी है। इससे प्रेस-संबन्धी कुछ भूलों का रह जाना संभव है। आगामी संस्करण में ऐसी भूलों का भी सुधार कर दिया जायगा।

प्रकाशक

नाटक के पात्र

पुरुष

विक्रमदेव—जालन्धर के राजा
देवदत्त—राजा के बाल्य-सखा
जयसेन } —राज्य के प्रधान नायक
युधाजित }
त्रिवेदी—वृद्ध ब्राह्मण
मिहिरगुप्त—जयसेन के अमात्य
चन्द्रसेन—काश्मीर के राजा
कुमारसेन—काश्मीर के युवराज, चन्द्रसेन के भाई के लड़के
शंकर—कुमार का पुराना वृद्ध स्वामी भक्त सेवक
अमरूराज—त्रिचूड़ के राजा

स्त्री

सुमित्रा—जालन्धर की रानी कुमारसेन की बहन
नारायणी—देवदत्त की स्त्री
रेवती—चन्द्रसेन की स्त्री काश्मीर की रानी
इला—अमरूराजा की कन्या। कुमारसेन की वाग्दत्ता स्त्री
भील, रामचरण आदि आदि

प्रस्तावना

रवीन्द्र बाबू इस युग की एक विभूति हैं। साहित्य ही में नहीं, विश्व-साहित्य में भी उनका एक खास स्थान है। वह एक साथ ही कवि, दार्शनिक और ऋषि हैं। शब्द और भाव में यथार्थ सामञ्जस्य देखने वालों में वह जितने कृत कार्य्य हुए हैं उतना कदाचित् ही इस युग में कोई हुआ हो। कठिन से कठिन दार्शनिक गुत्थियों को उन्होंने जिस कवि-सुगम लाघव से सुलझाया है, उसका ध्यान करता हुआ कौन अपने को ऊँचा उठता हुआ नहीं पावेगा। अवश्य ही "कविर्मनिषी परिभूःस्वयंभूः" का उच्च आदर्श उनके जीवन में दृष्टि गत होता है।

कवीन्द्र ने अभी तक जो कुछ भी हमें दिया है, वह सब उनका अनूभूत भाव-संचय है। मंत्र-द्रष्टा ऋषि की तरह उन्होंने प्रत्येक शब्द, प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक मात्रा का दिव्य दृष्टि से अनुशीलन किया है। यही कारण है कि उनकी रचनायें आज विश्व भर में मानव-समाज के हृदय पर अधिकार किये हुए हैं-और सच पूछो तो यही कवि-कर्त्तव्यकी सच्ची कसौटी है।

हिन्दी में रवि बाबू के कई उत्कृष्ट ग्रंथों का अनुवाद हो चुका है। उनका आदर भी अच्छा हुआ है। कवीन्द्र के दृश्य काव्य का तो साहित्य-जगत् सदा आभारी रहेगा। उनके कई नाटकों का रसा स्वादन हिन्दी-भाषा-भाषी भी कर चुके हैं। आज हमें "राजारानी" नामक उनके एक और सुन्दर नाटक का दर्शन हुआ है। हिन्दी में ऐसी सुन्दर दृश्य-रचना देखकर हमारा मनोमुकुल क्यों न प्रफुल्ल हो?

यह नाटक अपने ढंग का एक है, इसमें सन्देह नहीं। नाटक में सामयिकता के साथ ही स्थायित्व भी है। विचार-लहरी की, आरोही-अवरोही देखते ही बनती है। कवि-स्वातंत्र्य

की झलक कुछ निराली ही मिलती है; भले ही कोई उसे कवियों की निरंकुशता कहे ! "सर्वमत्यन्त गर्हितं" का आदर्श सामने रखकर ही प्रस्तुत नाटक की कल्पना बाँधी गयी है। एक का प्रेम की–प्रेम क्या, मोह की–अति से पतन दिखाया गया है, तो दूसरे का लक्ष्यहीन कर्म की अति से सर्व नाश कराया गया है। कवि–सुलभ–स्वातंत्र्य के अधिकार से रवीन्द्र बाबू ने किसी–किसी स्थल पर अति का भी अति रंजन निःसंकोच रीति से किया है, किन्तु हमारी राय में, उनका ऐसा करना नाटक की रोचकता को कम नहीं करता।

नाटक के मुख्यतः चार पात्र उल्लेखनीय हैं–विक्रम, सुमित्रा, कुमारसेन और इला। विक्रम में लालसा अत्यधिक है। वह विवेक की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता। उसने उपदेश की ओर से न जाने कब का मुँह फेर लिया है। पहले रूप–पिपासा से तड़पता रहा, पीछे लक्ष्यहीन कर्म–धारा में पंगु की तरह बहने लगा। उसे चाहे जो कठपुतली की तरह नाच नचा सकता है। बेचारा पराधीनता को ही स्वाधीनता समझता है।

जालन्धर-पति जालंधर की रानी सुमित्रा, वास्तव में, एक भारत–रमणी है, वह हृदयेश्वरी होते हुए भी गृह–लक्ष्मी है। प्रेम और मोह रूपी नीर-क्षीर का विवेक करने में साक्षात हंसिनी है। वह सच्ची राजमाता है। स्त्रैन पति से एक स्थल पर वह क्या ही ऊँचा व्यक्त करती है—

"छिः छिः ! महाराज, ऐसा प्रेम किस काम को। इस प्रेम ने तो आप के उज्ज्वल प्रताप-रूपी सूर्य्य को मध्याह्न काल में ही आकाश के बादलों की भाँति ढक लिया है।...... मुझे लज्जित न करो, महाराज, राजश्री, की अपेक्षा मुझे अधिक प्यार न करो।"

अन्यत्र–" पुरुषों को दृढ़ तरु की भाँति अपने ही बल पर

स्वतंत्र, उन्नत और अटल रहना चाहिये। तभी तो स्त्रियाँ लता की भाँति उनकी शाखाओं में आश्रय पावेंगी। परन्तु यदि पुरुषगण अपना समस्त हृदय स्त्रियों को दे डालेंगे तो हमलोगों का प्रेम कौन ग्रहण करेगा? इस संसार का बोझ कौन उठावेगा। नाथ, पुरुषों को कुछ स्नेहमय, कुछ उदासीन, कुछ मुक्त, लिप्त रहना चाहिये। क्योंकि वृक्ष केवल लताओं का ही आश्रय-स्थल नहीं है, वरन् वह सहस्रों पक्षियों का गृह, बटोहियों का विश्राम स्थान, तप्त भूमि के लिये छाया, मेघों का सुहृद और आँधीका प्रतिद्वन्द्वी भी है।

सुमित्रा की प्रजा-भक्ति पर त्रिलोक का भी निछावर कर देना थोड़ा है। वह प्रेम और कर्त्तव्य के संघर्ष को खूब पहचानती है। स्नेह की तो साक्षात् मूर्ति है। वह मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों को ही उज्ज्वल करने वाली है। उसके भ्रातृ-स्नेह का कौन अभागा अनुसरण न करेगा? भारत की अभागिनी जनता सुमित्रा जैसी दिव्य रमणियों के ही आविर्भाव की ओर टक लगाये खड़ी है। धन्य है कवीन्द्रका हृदय, जहाँ से सुमित्रा की कल्पना का दिव्य उदय हुआ है!

काश्मीर के पितृ-हीन बालक कुमारसेन का नाटक में कम भाग नहीं है। वह सुमित्रा का अनुज और विक्रम का साला है। नाबालिग है। राज्य की देख-रेख उसका चाचा चन्द्रसेन करता है। कुमार बड़ा ही भोला है। उसके हृदय में पवित्र प्रेम, भुजाओं में क्षात्र बल और मस्तिष्क में विवेक-शक्ति है। भाई-बहन की खूब पटती है। दोनों दो तन एक प्राण हैं। वंशकी गौरव-रक्षा का कुमार को सदा ध्यान रहता है। दुष्ट षड्यंत्रियों के बहकावे में आकर हृदय का अन्धा अतिप्रिय विक्रम काश्मीर पर चढ़ाई करता है। कैकेई की अवतार रेवती के वाक्य-बाणों से विद्ध हो कर कुमार ने पहले ही राजधानी

छोड़ दी है। बेचारा सहोदरी सुमित्रा के साथ राज-भक्त प्रजा की बाहु-छाया में वन-वन भटकता फिरता है। निर्जन वन में भी उसे कल नहीं। प्रजा पर सतत अत्याचार सुनकर अधीर हो कहता है—

"कहो बहिन कहो। मेरे भक्त जो मुझे प्राणों से भी बढ़ कर प्यार करते हैं और जो प्रतिदिन कठोर यंत्रणा सहकर अपने प्राणों को मेरे लिये निछावर कर रहे हैं, क्या उनके पीछे छिपकर अपने प्राण बचाना मुझे उचित है? क्या यह वास्तव में जीना है मैं अपने जीवन को विसर्जित करूँगा। उसके उपरान्त तुम मेरे कटे हुए सिर को ले जाकर अपने ही हाथों से जालन्धर पति को उपहार देकर कहना कि 'काश्मीर के तुम अतिथि हो इस लिये इतने दिनों से तुम जिसे पाने के लिये इतने व्याकुल हो रहे थे काश्मीर के युवराज ने उसे तुम्हारे पास अतिथि सत्कार के भेट के रूप में भेजा है'।"

सत्य संकल्प कुमार ने किया भी वही। सहोदर का कटा हुआ सिर लेकर चिरदुःखिनी सुमित्रा पति के सामने आ खड़ी हुई और वह भारत-रमणी भाई का अंतिम सन्देश सुना कर चिरकाल के लिये धराशायी हो गयी। क्या भाई-बहन की ऐसी अलौकिक जोड़ी संसार में कहीं अन्यत्र मिलेगी? हमें तो आशा नहीं।

अभागिनी इला के सम्बन्ध में क्या कहें। त्रिचूड़ के राजा अमरुराज की वह पुत्री है। कुमारसेनके प्रेम में वह फँस चुकी है। वह प्रेम और केवल प्रेम जानती है। कर्त्तव्य की ओर उसका भी ध्यान नहीं है, पर वह विक्रम की तरह अन्धी नहीं है। उसकी प्रेम-पिपासा बड़ी ही तीव्र है। एक स्थल पर कर्म वीर कुमार से कहती है—

"अहा! ऐसा ही हो, सुख की छाया से सुख अच्छा है, पर

यदि सुख हो तो वह भी अच्छा है। मृग–तृष्णा से तृष्णा अच्छी है। कभी मैं सोचती हूँ कि तुमको पाऊँगी, कभी सन्देह होता है कि तुम्हें मैं न पाऊँगी और कभी सन्देह होता है कि मैं तुम्हें खो दूँगी। कभी अकेली बैठी सोचती हूँ कि तुम कहाँ हो क्या कर रहे हो। मेरी कल्पना वन-प्रांत से विकल होकर लौट आती है। वन के बाहर का मार्ग मैं नहीं जानती, इससे मैं तुम्हें खोज नहीं सकती अब मैं तुम्हारे साथ सर्वदा समस्त भुवन में रहूँगी! कोई स्थान अपरचित नहीं रहेगा। अच्छा बताओ प्रियतम! क्या मैं तुम्हें कभी वश न कर सकूँगी ?"

निरवधि मिलन की आशा बँधा कर कर्त्तव्य पालन करने के लिये कुमार चले गये। भोली इला मिलन-रात्रिका नित्य नूतन स्वप्न देखने लगी। उसे सारा विश्व कुमार–मय दिखाई देता है। इला का पिता एक क्षुद्र संसारी मनुष्य है। वह विक्रम के साथ उसका विवाह करने का निश्चय कर चुका है। पिता की आज्ञा से विरहिणी इला विक्रम के सामने आती है। विक्रम अब भी प्रेम–देवी सुमित्रा को नहीं भूला है। फिर भी कामुकता वश इला के लावण्य पर खिंच जाता है। विक्रम के मुख से कुमार की दुर्दशा का समाचार सुनकर इला अधीर हो रोने लगती है। कुमार के प्रति उसका अलौकिक विशुद्ध प्रेम देखकर विक्रम की भावना एक दम बदल जाती है। प्रेम की काम पर विजय हुई। इला के आँसुवों ने विक्रम की कलुष-कालिमा धो डाली। उसने कुमार का इला के साथ विवाह कराने तथा उसे सिंहासनासीन करने का दृढ़ निश्चय किया। यहाँ नाटक में युगान्तर उपस्थित हो जाता है। कुमार की तलाश में विक्रम ने चर भेजे, पर होनी तो कुछ और ही थी "हरेरिच्छा बलीयसी"।

अन्त में विक्रम को सुमित्रा मिली, पर वह सुमित्रा नहीं।

कुमार को देखा, पर पश्चात्ताप के धूमिल आवरण द्वारा। चन्द्रसेन की भी आँखें खुलीं, पर वहाँ देखने के लिये कुछ भी नहीं था। इलाको क्या मिला? प्रेमसाम्राज्य में अक्षय मिलन।

संक्षेप में, राजारानी का यही दिग्दर्शन है। हम पुरोहित-दम्पति को भी नहीं भूले हैं, पर दिग्दर्शन में उनकी चर्चा हम नहीं ला सके। समाज और राष्ट्र के लिये कवीन्द्र की यह उत्कृष्ट कल्पना कितनी उपयोगिनी है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं।

अब अनुवाद के सम्बन्ध में दो चार शब्द लिखकर हम प्रस्तावना समाप्त करते हैं। इस नाटक का अनुवाद सुप्रसिद्ध 'सरस्वती' पत्रिका में भी निकल चुका है। वह अनुवाद भी सरस और सुन्दर है। उसमें हमें केवल एक बात खटकती है। वह है पद्य प्रति पद्य का अतुकान्त प्रयास। हमारी राय में हिन्दी पद्य-जगत् में अभी इस प्रकार की रचना को आदर का स्थान नहीं मिल सकता। अस्तु। प्रस्तुत अनुवाद बहुत कुछ अंशों में संतोष-जनक कहा जा सकता है। अनुवादक महोदय बाबू मुरारिदासजी ने अविकल अनुवाद करने का प्रयास किया है और उसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। गीत हमें संतोष जनक नहीं जँचे। कुछ गीत हमारी धारणा के अपवाद में आ सकते हैं। दो एक स्थल पर लिंग-भेद सम्बन्धी और कहीं कहीं पर भाषा प्रवाह-विषयक त्रुटियाँ रह गयी हैं। इन दो-एक बातों को छोड़कर अनुवाद सुन्दर, सरस और यथार्थ हुआ है। ऐसी ऊँची पुस्तक का अनुवाद करने के लिये हम अनुवादक महोदय को बधाई देते हैं। अलं विद्वत्सु।

काशी
फाल्गुण शुक्ल १४
१९८२

वियोगी हरि

॥ श्रीः ॥

प्रथम अंक

प्रथम दृश्य

जालन्धर

राजमहल का एक कमरा

विक्रमदेव और देवदत्त

देव—महाराज, आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं?

विक्रम—क्यों, क्या हुआ?

देव—मैंने ऐसा कौनसा अपराध किया है जिसके कारण आप मुझे पुरोहित बना देना चाहते हैं? मैंने तो न जाने कितने दिन हुए त्रिष्टुप अनुष्टुप छन्द पाठ करना भी छोड़ दिया है, आपके साथ रहकर वेद-मंत्र का समस्त विधान भी भूल गया हूँ, श्रुति और स्मृति को तो विस्मृतिरूपी जल में कभी का बहा चुका हूँ। भला जब मैं अपने एक मात्र पिता का नाम भी भूल जाता हूँ, तब फिर मैं तैंतिस कोटि देवताओं का नाम कहाँ तक याद रख सकता हूँ। यही कारण है कि देवताओं के अलग-अलग नाम न लेकर सबको एक साथ ही नमस्कार कर लेता हूँ। तेजहीन ब्राह्मण के चिह्न-स्वरूप गले में केवल

यज्ञोपवीत विषहीन केंचुली की तरह पड़ा है। फिर आप मुझे यह दण्ड क्यों दे रहे हैं ?

विक्रम—हाँ सखे, तुम्हारे पास न शास्त्र है न मंत्र, और न ब्राह्मणत्व का कोई बखेड़ा ही। इसी से तो निर्भय होकर, मैंने तुम्हें पुरोहिताई का भार दिया है।

देव—इससे तो जान पड़ता है कि आप एक नख-दन्त-हीन पालतू पुरोहित चाहते हैं।

विक्रम—सखे, यहाँ के राज-पुरोहित क्या हैं मानो ब्रह्म-दैत्य हैं। बारहो मास राजा के माथे बैठकर सुख से भोजन तो करते ही हैं, कभी अनुष्ठान, कभी निषेध, कभी विधि-विधान, कभी अनुयोग, कभी व्यवस्था का एक न एक उत्पात लगाये ही रहते हैं। हाँ, उनका मुख्य काम है, अनुस्वार और विसर्ग का भयंकर आडम्बर दिखाकर दक्षिणा-पूर्ण हाथों से केवल कोरा आशीर्वाद देकर विदा होना।

देव—महाराज, यदि आप शास्त्रहीन ब्राह्मण को ही पुरोहित बनाना चाहते हैं, तो सबसे अच्छे त्रिवेदीजी हैं, जो बड़े ही सीधे-सादे हैं। रात-दिन जप-पूजा और क्रिया-कर्म में लगे रहते हैं, और सदा माला फेरा करते हैं। हाँ, मंत्र उच्चारण करते समय केवल उन्हें क्रिया और कर्म (व्याकरण) का ज्ञान नहीं रहता।

विक्रम—ऐसे ही मनुष्य बड़े भयंकर होते हैं। सखे, जो लोग शास्त्र नहीं जानते, वे शास्त्र का आडम्बर चौगुना रचते हैं। जो वेद और व्याकरण से शून्य हैं, उन्हें किसी बात की रुकावट नहीं रहती, वे सदा अमर और पाणिनी को पछाड़कर आगे बढ़ते रहते हैं। इसलिये एक ही साथ राजा और व्याकरण दोनों का सताना नहीं सहा जाता।

देव—महाराज, इस समाचार के सुनते ही कि आपने मुझे पुरोहित बनाया है, जितने केशहीन चीकने माथे हैं, आन्दोलित हो उठेंगे। राज्य के अमंगल की आशंका से लोगों के शिखा-सूत्र कंटकित हो जायंगे।

विक्रम—इसमें अमंगल की आशंका क्या है?

देव—इस गरीब कर्म-कारडहीन ब्राह्मण के दोष से कुल देवताओं की रोषाग्नि......

विक्रम—सखे, रहने दो, इस भय को दूर करो; कुलदेवताओं के रोष को सिर झुकाकर सहने के लिये मैं तैयार हूँ, परन्तु कुल-पुरोहितों का घमएड सहा नहीं जाता। सखे, प्रचंड धूप सहन की जा सकती है परन्तु तपी हुई रेती नहीं सही जाती। अच्छा, हटाओ इस झूठे तर्क को, आओ कुछ साहित्य-चर्चा करें। हाँ, कल तुमने किसी प्राचीन कवि का एक वाक्य कहा था कि—"स्त्रियों का विश्वास मत करो!" उसे आज फिर तो एक बार कहो!

देव—"शास्त्रं *"

विक्रम—भाई क्षमा करो, इन सब अनुस्वारों को थोड़ी देर के लिये रहने दो!

देव—महाराज, अनुस्वार धनुः शर नहीं हैं, यह तो केवल उसकी टंकार मात्र हैं। अच्छा, हे वीरपुरुष! डरो मत, अब मैं भाषा ही में कहता हूँ, सुनो!

शास्त्र सुचिन्तित पुनि पुनि देखिय, भूप सुसेवित वश नहिं लेखिय।
राखिय नारि यदपि उर माहीं, युवती-शास्त्र-नृपति वश नाहीं॥
(तुलसीदास)

---

*शास्त्रं सुचिन्तितमथोपरिचिन्तनीया, सेव्येऽपि नृपोपि सततं परिसेव्यनीया।
अङ्के स्थितापि युवतीपरिरक्षणीया, शास्त्रे नृपे च युवतौच कुतोवशित्वम्॥

विक्रम—वश में नहीं हैं? कवि यह तुम्हारी कैसी ढिठाई है। अरे उन्हें वश करना ही कौन चाहता है? जो उन्हें वश करना चाहता है वह तो विद्रोही है। कहीं राजा और रमणी भी वश किये जा सकते हैं?

देव—ठीक है! तब क्या पुरुषों को स्त्रियों के वश में रहना होगा?

विक्रम—रमणी-हृदय का रहस्य कौन जान सकता है! वह ईश्वरीय नियम (विधि-विधान) की तरह गूढ़ है। इसलिये ईश्वरीय विधान में और स्त्रियों के प्रेम में ही यदि अविश्वास हो तो आश्रय कहाँ मिलेगा? नदी क्यों बहती है, हवा क्यों चलती है, इसे कौन जानता है! परन्तु वही नदी देश का कल्याण करती है, और वही हवा प्राणियों का जीवन है।

देव—पर उसी नदी में बाढ़ आती है; उसी वायु से आँधी भी तो उठती है?

विक्रम—चाहे वह जीवन-दान करे या प्राण-हरण करे, हमें उसे शिर झुकाकर सहन करना ही चाहिये; क्योंकि जो प्राण-दान करता है वही प्राण-हरण भी करता है। पर इसी कारण ऐसा मूर्ख कौन होगा जो उसे वश करना चाहेगा। देखो बँधी नदी और संकुचित वायु रोग, शोक, और मृत्यु का कारण होती हैं। हे ब्राह्मण, भला तुम स्त्रियों के विषय में क्या जानो!

देव—कुछ भी नहीं, महाराज! ब्राह्मण के घर जन्म लेकर अपने पिता और माता का वंश उज्ज्वल किये हुए त्रिकाल सन्ध्या और तर्पण किया करता था, परन्तु जब से आपका संसर्ग हुआ है, सब देवताओं को विसर्जन कर दिया है-केवल अनंग देव की आराधना रह गई है। महिम्नस्तव भुलाकर नारी-महिमा का गीत गाना सीख लिया है। पर वह विद्या भी

पुस्तकगत है, क्योंकि आपकी आँखों की लाली देखकर उसे भी मैं स्वप्न की तरह भूल जाता हूँ ।

विक्रम—नहीं सखे ! डरो मत, मैं कुछ न कहूँगा । तुम अपनी नयी विद्या का परिचय दे डालो ।

देव—सुनिये । कवि भर्तृहरि जी कहते हैं:—

" नारियों के वचन में मधु, है हृदय में अति गरल ।
अधर से देतीं सुधा, चित्त में लगाती हैं अनल ॥ *

विक्रम—फिर वही पुरानी बात !

देव—सचमुच पुरानी है, पर क्या करूँ महाराज, जितनी पुस्तकें खोलता हूँ, सब में यही एक बड़ी बात दिखाई पड़ती है । मालूम होता है, जितने प्राचीन पण्डित थे, वे सबके सब अपनी प्रियतमाओं को लेकर एक क्षण भी सुचित नहीं रहते थे । पर आश्चर्य तो यह है कि जिनकी ब्राह्मणी पर-पुरुष की खोज में इस प्रकार घूमा करती थीं, वे एकाग्र मनसे सुन्दर-सुन्दर छन्दों में काव्य की रचना कैसे करते थे !

विक्रम—झूठा अविश्वास था ! वे जान-बूझकर अपने को धोखा देते थे । क्षुद्र हृदय का प्रेम अत्यन्त विश्वास से मृत और जड़वत् हो जाता है । इसी से उसे मिथ्या अविश्वास करते हुए भी जगाना पड़ता है । उधर देखो, वह ढेर का ढेर राज-काज का बोझ लिए हुए मंत्री आ रहे हैं । यहाँ से मैं अब भागता हूँ ।

देव—हाँ, हाँ, भागिये, भागिये, अन्तःपुर में जाकर रानी के राज्य में आश्रय लीजिये । अधूरा राज-काज को बाहर ही पड़ा

---

* मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदि हालाहलमेव केवलम् ।
अतएव निपीयतेऽधरो, हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते ॥
(भर्तृहरि शृङ्गार शतक)

पड़ा बढ़ने दीजिये । जितना ही दिन वह पड़ा रहेगा, उतना ही वह बढ़ता हुआ अन्त में एक दिन वह आपका द्वार छोड़कर भगवान के विचारासन की ओर पहुँच जायगा ।

विक्रम—यह क्या मुझे उपदेश दे रहे हो ?

देव—नहीं राजन् ! यह प्रलाप है। आप जाइये समय नष्ट हो रहा है ।

(मंत्री का प्रवेश)

मंत्री—महाराज तो अभी यहीं न थे ?

देव—अन्तःपुर की ओर अन्तर्द्धान् हो गये हैं ।

मंत्री—(बैठकर) हा! भगवन्! इस राज्य की क्या दशा हो गई ! कहाँ है राजा, कहाँ है राज्य सिंहासन और कहाँ है राजदण्ड ! श्मशान-भूमि की तरह विषण्ण विशाल राज्य की छाती पर मानो पाषाण रुद्ध-वधिर अन्ध अन्तःपुर घमण्ड से खड़ा है, और राजलक्ष्मी अनाथा की तरह द्वार पर बैठकर हाहाकार करती हुई रो रही हैं ।

देव—मुझे तो देखकर हँसी आती है । राजा भाग रहे हैं और राज्य उनके पीछे-पीछे दौड़ रहा है । मंत्रिवर, यह तो अच्छा ही हुआ, राजा और राज्य दोनों मिलकर मानो आँख-मिचौनी खेल रहे हैं ।

मंत्री—ब्राह्मणदेवता, यह क्या हँसने की बात है ?

देव—हँसे न तो क्या करें ? वन में रोना तो मूर्खों का काम है । रात-दिन का रोना सहा नहीं जाता । इसी से रोने के बदले सूखी श्वेत हँसी तुषार की तरह जमे हुए आँसुओं के बदले कभी-कभी आ जाती है । अच्छा बताओ बात क्या है ?

मंत्री—तुम तो सब जानते ही हो । रानी के इन कश्मीरी भाई-बन्धुओं ने एक प्रकार से समस्त राज्य को अपने हाथ

में कर लिया है । उन लोगों ने राजा के प्रताप को विष्णुचक्र से छिन्न-भिन्न मृत सती की देहकी*तरह टुकड़े टुकड़े करके आपस में बाँट लिया है । इन कश्मीरियों के अत्याचार से सताई हुई प्रजा रो रही है । पर जब राजा ही नहीं, तो उनका रोना कौन सुने ! ये काश्मीरी परदेशी मंत्री लोग बैठे बैठे मुसकुराते हैं । हा ! यह दशा देखकर यद्यपि मेरा हृदय फटा जाता है, पर तौ भी सूने सिंहासन के पास निज कर्त्तव्य वश चुपचाप बैठा रहता हूँ ।

देव—अहा ! आँधी चल रही है, नाव डूब रही है, नौकारोही यात्री रो रहे हैं । खाली हाथ कर्णधार एक ओर खड़ा-खड़ा पूछ रहा है, पतवार कहाँ गया ? कर्णधार ! उसके खोजने में अपनी जान व्यर्थ क्यों गँवाते हो ? क्योंकि राजारूपी पतवार को रमणी ने अपनी ओर खींच लिया है । और उससे लीला-सरोवर में जहाँ वसन्त-वायु बह रही है, प्रेम की नौका चला रही है । इधर राज्य के भार से बोझी हुई नौका को लेकर बेचारा मंत्री अगाध जल में डूब रहा है ।

मंत्री—देवता, हँसो मत ! शोक के समय हँसना अच्छा नहीं लगता !

देव—मैं कहता हूँ मंत्रिवर ! राजा को छोड़ सीधे रानी के ही चरणों में क्यों नहीं जा गिरते ?

मंत्री—मुझसे यह नहीं होगा । रमणी अपने ही कुटुम्बियों के विषय में क्या कभी विचार कर सकती है ?

देव—मंत्री, तुम कोरी राजनीति जानते हो, पर मनुष्यों की पहचान तुम्हें नहीं है । स्त्रियाँ अपने हाथों से अपने स्वजनों

* आख्यान देखो

को दण्ड दे सकती हैं, पर दूसरों के दिये हुए दण्ड को नहीं सह सकती ।

मंत्री—ओह, सुनो यह कैसा शोर है !

देव—यह क्या प्रजा विद्रोह है ?

मंत्री—चलो, देखें क्या बात है !

द्वितीय दृश्य

राजपथ

भीड़

कन्नू नाऊ—अरे भाई यह रोने-धोने का दिन नहीं है। रो तो बहुत चुके, पर उससे क्या कुछ हुआ ?

मनसुख किसान—ठीक कहते हो भाई, ठीक कहते हो; साहस से ही सब काम होते हैं। कहावत भी है "जिसकी लाठी उसकी भैंस।"

कुञ्जीलाल लुहार—भीख माँगने से अब कुछ न होगा। हम लोग अब लूट-पाट से ही काम चलायेंगे।

कन्नूनाऊ—भिक्षा नैवचं, नैवचं। क्यों चाचा, तुम तो स्मार्त्त ब्राह्मण के लड़के हो। भला बतलाओ तो लूट-पाट में क्या कुछ पाप है ?

नन्दलाल—कुछ नहीं जी कुछ नहीं, भूख के आगे कोई नहीं ठहर सकता। क्या जानते नहीं, अग्नि को कहते हैं पावक, अग्नि सब पापों को नष्ट कर देती है। फिर जठराग्नि से बढ़कर तो कोई आग ही नहीं है।

कुछ लोग एक साथ—ठीक कहते हो, शाबाश! जीते रहो, पण्डितजी जीते रहो! अच्छा तब यही होगा, अब हमलोग आगही लगावेंगे। अरे आग में पाप नहीं है भाई। इस बार उनलोगों की हवेलियों को ढहाकर गदहे से हल चलवावेंगे।

कुञ्जीलाल—मेरे पास तीन बर्छियाँ हैं।

मनसुख—मेरे पास एक हल है, उसी से बड़े लोगों के सिरों को मिट्टी के ढेले की तरह तोड़ डालूंगा।

श्रीहर तेली—मेरे पास एक बड़ी सी कुदारी थी, पर भागते समय उसे घर ही छोड़ आया हूँ।

हरिदीन कुम्हार—अरे तुमलोगों की मौत आरही है क्या? अरे इतना बक-बक क्यों कर रहे हो? पहिले राजा से तो कहो, अगर वह न सुनेंगे तो दूसरी सलाह की जायगी।

कन्नू नाऊ—मैं भी तो यही कहता हूँ।

कुञ्जीलाल—मैं भी तो यही सोचता हूँ।

श्रीहर तेली—मैं तो पहिले से ही कह रहा हूँ कि कायथ बच्चे को बोलने दो। अच्छा भाई, तुम राजा से डरोगे तो नहीं?

मन्नूराम कायस्थ—मैं किसी से नहीं डरता। जब तुम लोग लूट-पाट करते हुए नहीं डरते, मैं तब भला दो चार कोरी बातें कहने में क्या डर जाऊँगा?

मनसुख किसान—अजी दंगा-फसाद करने में और दो बातें करने में बड़ा अन्तर है। यह तो बराबर देखने में आता है कि जिसका हाथ चलता है उसका मुँह नहीं चलता।

कन्नू—केवल मुँह से कोई काम नहीं होता, न पेट ही भरता है, और न बात ही बनती है।

कुञ्जीलाल—अच्छा, तुम राजा से क्या कहोगे, ज़रा कहो तो सही!

मन्नू—मैं निडर होकर कहूँगा । मैं पहिले ही शास्त्र सुनाऊँगा ।

श्रीहर तेली—सचमुच क्या तुम शास्तर जानते हो ? इसीसे तो मैंने पहिले ही कहा था कि इस कायथ बच्चे को बोलने दो ।

मन्नू—मैं पहिले ही कहूँगा—

अति दर्पे हता लङ्का, अति माने च कौरवाः ।
अतिदाने बलिर्बद्धः, सर्व्वमत्यन्त गर्हितम् ॥

हरिदीन—हाँ बेशक, यह शास्त्र है ।

कन्नू—(ब्राह्मण नन्दलालसे) क्यों चाचा, तुम तो ब्राह्मण के लड़के हो, बताओ यह शास्त्र की बातें हैं या नहीं ? तुम तो यह सब जानते हो ।

नन्दलाल—हाँ-उसे-हाँ जी उसका नाम क्या है-समझता क्यों नहीं ? परन्तु राजा अगर न समझें तो तुम उन्हें कैसे समझाओगे ? ज़रा समझाकर कहो तो सही ।

मन्नू—इसका यही अर्थ है कि बहुत अति करना अच्छा नहीं ।

जौहर—अरे, इतनी बड़ी बात का इतना छोटा सा अर्थ हुआ ?

श्रीहर तेली—अगर ऐसा न हो तो फिर शास्तर ही क्या ?

नन्दलाल—गँवार लोगों के मुँह से जो बातें छोटी मालुम होती हैं, वही बड़ों के मुँह से बड़ी जान पड़ती हैं ।

मनसुख किसान—पर बात है बड़ी अच्छी "अति करना अच्छा नहीं" सुनकर राजा की आँखें खुल जायँगी ।

जौहर—पर सिर्फ इसी एक बात से काम नहीं चलेगा, और भी शास्तर की ज़रूरत होगी ।

मन्नू—भला इसके लिये क्या चिन्ता है! मेरे पास इसकी काफ़ी पूँजी है, मैं कहूँगा—

"लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात् मित्रञ्च पुत्रञ्च ताडयेत् न तु लालयेत्॥"

हमलोग भी राजा के पुत्र ही हैं? मैं कहूँगा "हे महाराज! आप हमलोगों की ताड़ना न करें, यह तो अच्छी बात नहीं है।"

हरिदीन—वाह! क्या कहना है! यह बात तो सुनने में बड़ी अच्छी लगती है।

श्रीहर तेली—परन्तु केवल शास्तर कहने से काम नहीं चलेगा। मेरे कोल्हू की बात कैसे आवेगी? उसी के साथ जोड़ देने से क्या अच्छा न होगा?

नन्द—बचा, तुम कोल्हू के साथ शास्तर जोड़ोगे? उसे क्या तुमने अपना बैल समझ लिया है?

जौहर जुलाहा—आख़िर है तो तेली ही, उसे और कितनी बुद्धि हो सकती है।

कुञ्जीलाल—बिना दो-चार धौल उसके पीठ पर पड़े उस की अकिल ठिकाने नहीं हो सकती। पर हाँ, यह तो बताओ मेरी चर्चा कब छेड़ोगे? याद रहेगा न? मेरा नाम है कुञ्जी लाल, काँजीलाल नहीं, वह मेरा भतीजा है, वह बुधकोट में रहता है। वह जब तीन वर्ष का था तभी उसको...

हरिदीन—हाँ, यह सब मैं जान गया। पर आज कल का समय बड़ा टेढ़ा है। अगर राजा शास्तर की बातें न सुनें तब?

कुञ्जीलाल—तब हमलोग भी शास्तर छोड़ अस्त्र उठावेंगे।

मनसुख—किसने कहा जी? इस बातको किसने कहा?

कुञ्जीलाल—(घमण्ड के साथ) मैंने कहा है, मैंने। मेरा नाम है कुञ्जीलाल, काँजीलाल है मेरा भतीजा।

कन्नू—हाँ तुमने कहा तो है ठीक—शास्तर और अस्तर—कभी शास्तर और कभी अस्तर—और फिर कभी अस्तर और फिर कभी शास्तर।

जौहर—पर यह तो बड़ा गड़बड़ होरहा है। बात क्या तै हुई, यह तो कुछ समझ में ही नहीं आती। शास्तर या अस्तर?

श्रीहर तेली—बचा, जुलाहे न हो, इसी से इतना भी न समझ सके? अरे तै हुआ कि शास्तर की महिमा समझने में ढेर देर लगती है, पर अस्त्र की महिमा बहुत जल्दी समझ में आ जाती है।

बहुतसे—(चिल्लाकर) तब शास्तर को भार में झोंको, अस्तर उठाओ।

(देवदत्त का प्रवेश)

देव—घबड़ाओ मत! भार में ही सबलोग जाओगे, उसकी तैयारी हो रही है। हाँ जी, तुम लोग क्या कह रहे थे?

श्रीहर—गुरुजी, हमलोग इस भले आदमी के लड़के से शास्तर सुन रहे थे।

देव—हाँ, क्या इसी तरह मन लगाकर शास्त्र सुना जाता है? तुम लोगों ने मारे चिल्लाहट के राजा के कानकी चैली उड़ा दी। ऐसा मालूम होता है, जैसे कहीं धोबियों के महल्ले में आग लगी हो।

कन्नू—हाँ गुरुजी, आप ऐसा क्यों न कहेंगे? आप तो राजा के यहाँ का सीधा खाय-खायकर मोटाये जा रहे हैं न? और हम लोगों के पेट की अँतड़ी तक मारे भूखके जलरही है। हमलोग क्या बड़े साध से चिल्ला रहे हैं?

मनसुख—आजकल धीरे कहने से सुनता ही कौन है! आजकल चिल्ला करके ही बातें कहनी पड़ती हैं।

कुञ्जीलाल—रोना-धोना बहुत हो चुका। अब हम लोग देखेंगे कि दूसरा कुछ उपाय है या नहीं।

देव—क्या कहते हो जी? तुम लोगों की ढिठाई बहुत बढ़ गई है? अच्छा सुनोगे, कहूँ?

* नसमान समान समोन समागम मापसमीच्य वसन्तनभः।
भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद, भ्रमरच्छलतः खलुकामिजनः।*

हरिदीन—अरे बप्पा, शाप दे रहे हैं क्या?

देव—(मन्नू के प्रति) तुम तो पंडित के लड़के हो, तुम तो शास्त्र समझते हो। क्यों यह बात ठीक है या नहीं?

"नस मानस मानस मानसं"

मन्नू—अहा! बहुत ठीक है। इसी का नाम शास्त्र है। मैं भी तो ठीक यही बातें इन्हें समझा रहा था।

देवदत्त—(नन्दलाल से) नमस्कार! आपतो ब्राह्मण मालूम होते हैं, अच्छा आपही बताइये इसका परिणाम क्या होगा? अन्त में ये सब मूर्ख "भ्रमद, भ्रमद, भ्रमद," होकर मरेंगे न?

नन्द—मैं तो बराबर यही कह रहा हूँ, पर सुनता कौन है? आखिर ये छोटी ही जात तो हैं।

देव—(मनसुख से) तुम्हीं इन लोगों में बुद्धिमान जान पड़ते हो, भला तुम्हीं बताओ ये सब बातें क्या अच्छी हो रही थीं? (कुञ्जीलाल से) तुम भी तो बड़े भले आदमी जान पड़ते हो। हाँ जी, तुम्हारा नाम क्या है?

कुञ्जीलाल—मेरा नाम है कुञ्जीलाल—काँजीलाल मेरे भतीजे का नाम है।

देव—हाँ तुम्हारे ही भतीजे का नाम काँजीलाल है? तब तो मैं राजा से विशेष करके तुम्हारी चर्चा करूँगा।

---

* "नलोदय – कालिदास," अनुवादक।

हरिदीन—और हम लोगों का क्या होगा ?

देव—इसे मैं अभी नहीं बता सकता। क्यों, अब तो तुम लोगों ने रोना शुरू किया, पर इसके थोड़ी देर पहिले कैसा सुर निकला था ? क्या समझते हो कि राजा ने तुम्हारी इन बातों को सुना नहीं होगा। राजा सब सुनते हैं।

बहुत से—दुहाई गुरुजी ! दुहाई महाराज की ! हम लोगों ने कुछ नहीं कहा था, इसी कंजूलाल या मंजूलाल ने ही अस्तर की बात छेड़ी थी।

कुञ्जीलाल—चुप रहो, मेरा नाम न बिगाड़ो जी। मेरा नाम है कुञ्जीलाल। मैं कभी झूठ नहीं बोलता। मैंने कहा था, 'जैसा शास्त्र है वैसा अस्त्र भी है।' क्यों ठीक कहा कि नहीं, गुरुजी !

देव—तुमने ठीक कहा। तुमने अपने योग्यता के अनुसार ही कहा है "दुर्बलस्य बलंराजा" राजा ही दुर्बलों का बल है, और फिर "बालानां रोदनं बलं"। तुम लोग राजा के आगे बालक ही तो हो। इस लिये यहाँ रोना ही तुम लोगों का अस्त्र है। अगर शास्त्र से काम न चले, तो तुम लोगों का रोना ही अस्त्र है भाई, तुमने बड़ी बुद्धिमानी की बात कही है। सच है, पहिले मुझ को भी चकाचौंध सी लग गई थी। तुम्हारा नाम याद रखना होगा। हाँ जी, तुम्हारा नाम क्या है ?

कुञ्जीलाल—मेरा नाम है कुञ्जीलाल—काँजीलाल मेरा भतीजा है।

और सब लोग—गुरुजी ! हम लोगों को क्षमा करो, क्षमा करो !

देव—अजी, मैं क्षमा करने वाला कौन हूँ ! पर हाँ, रो धो कर देखो, शायद राजा क्षमा कर दें। (प्रस्थान)

तृतीय दृश्य

अन्तःपुर-प्रमोद-कानन

विक्रम देव और सुमित्रा

विक्रम—लज्जा से झुकी हुई नव-वधू की तरह मौन, मुग्ध सन्ध्या धीरे-धीरे इस कुञ्ज-वन में आ रही है। जिस प्रकार सामने गंभीर रात्रि अपने अनन्त अन्धकार को फैलाकर सन्ध्या की इस कनक-कान्ति को आच्छादित किया चाहती है, उसी प्रकार मैं भी तेरी इस हँसी, इस रूप और इस ज्योति को पान करने के लिये अपना हृदय पसारे हुए खड़ा हूँ। प्रियतमे! दिवोलोक तट से आओ, उतर आओ, अपना कनक-चरण रखकर मेरे इस अगाध हृदय के अगाध सागर में अवगाहन करो। प्रिये, अब तक तू कहाँ थी?

सुमित्रा—विश्वास रखो, मैं नितान्त तुम्हारी ही दासी हूँ। परन्तु घर के कामकाज में लगी रहने के कारण सदा तुम्हारे पास नहीं रह सकती। नाथ! वह घर और काम भी तो तुम्हारा ही है?

विक्रम—रहने दो घर और घर का काम! इस संसार में नहीं, मेरे हृदय में ही तुम्हारा घर है। प्रिये, बाहरी घर से तुम्हें क्या काम! बाहरी घर के कामों को बाहर ही पड़े-पड़े रोने दो।

सुमित्रा—केवल तुम्हारे हृदय में? नहीं नाथ, नहीं राजन्! मैं अन्दर बाहर दोनों ही जगह तुम्हारी हूँ। अन्तर में मैं तुम्हारी प्रेयसी हूँ और बाहर महिषी।

विक्रम—हाय, प्रिये! आज वह सुख का दिन स्वप्न सा क्यों जान पड़ता है? वह प्रथम-मिलन, प्रेमकी छटा,

देखते-देखते समस्त हृदय और देहमें यौवन का विकास, रात्रि में मिलती समय हृदयका स्पन्दन, आँखों में फूलों पर पड़ी हुई ओसकी बूँदों की तरह लज्जा, ओठों की वह हँसी जो सन्ध्या के हवा लगने से कातर-कम्पित दीप-शिखा की भाँति कभी प्रगट होती थी, कभी छिप जाती थी, वह आँखोंसे आँखों का मिलकर झँपजाना, हृदयकी बातों का मुँह से न निकलना, चाँद और ताराओं का आकाश से यह कौतुक देखकर हँसना, और रात बीतने पर आँखोंका डबडबाना, तनिक से विच्छेद के कारण हृदय का व्याकुल हो जाना; प्रिये ! यह सब क्या स्वप्न था ? उस समय गृह-कार्य्य कहाँ था ? उस समय संसार-भावना कहाँ थीं !

सुमित्रा—नाथ ! उस समय हम छोटे-छोटे बालक और बालिका थे, पर आज हम राजा और रानी हैं ।

विक्रम—राजा और रानी ! कौन है राजा, और कौन है रानी ? नहीं, मैं राजा नहीं हूँ । देखो, सूना सिंहासन पड़ा रो रहा है । राज-काज तुम्हारे पैरों के नीचे पड़ा पड़ा धूलमें मिलरहाहै ।

सुमित्रा—यह सुन कर नाथ मैं लज्जा से मर रही हूँ । छिः छिः महाराज ! ऐसा प्रेम किस कामका ? इस प्रेम ने तो आपके उज्ज्वल प्रताप रूपी सूर्य्य को मध्याह्न काल में ही आकाश के बादलों की भाँति ढंक लिया है । प्रियतम ! सुनो, तुम्हीं हमारे सब कुछ हो । तुम्हीं मेरे महाराज हो, और तुम्हीं मेरे स्वामी हो । मैं तुम्हारी अनुगत छाया मात्र हूँ, इससे अधिक नहीं । मुझे लज्जित न करो । महाराज राजश्री की अपेक्षा मुझे अधिक प्यार न करो !

विक्रम—तब क्या तुम मेरा प्रेम नहीं चाहती ?

सुमित्रा—नाथ ! कुछ थोड़ासा चाहती हूँ, सब नहीं । मुझे

अपने हृदय के एक कोने में स्थान दो, पर अपना समस्त हृदय ही मुझे न दे डालो।

विक्रम—हा! अब तक मैं स्त्रियों के गूढ़ रहस्य को न समझ सका।

सुमित्रा—महाराज! पुरुषों को दृढ़ तरु की भाँति अपने ही बल पर स्वतंत्र, उन्नत और अटल रहना चाहिये; तभी तो स्त्रियाँ लता की भांति उनकी शाखाओं में आश्रय पावेंगी। परन्तु यदि पुरुषगण अपना समस्त हृदय स्त्रियों को दे डालेंगे तो हम लोगों का प्रेम कौन ग्रहण करेगा? इस संसार का बोझ कौन उठावेगा? नाथ! पुरुषों को कुछ स्नेहमय, कुछ उदासीन, कुछ मुक्त और कुछ लिप्त रहना चाहिये, क्योंकि वृक्ष केवल लताओं का ही आश्रय-स्थल नहीं है, वरन वह सहस्रों पक्षियों का गृह, बटोहियों का विश्राम स्थान, तप्त भूमि के लिये छाया, मेघों का सुहृद और आँधीका प्रतिद्वन्दी भी है।

विक्रम—प्रिये! इन व्यर्थ बातों को हटाओ। देखो इस सन्ध्या समय प्रेम-सुख से मौन होकर पक्षी अपने-अपने घोंसलों में आनन्द कर रहे हैं, उसीसे उनकी मधुर ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती। ऐसे समय हमलोग इन सब बातों में इस सुन्दर समय को क्यों खोयें? प्रिये अधर को अधर में प्रहरी की तरह रखकर, इन चञ्चल बातों का द्वार बन्द करदो।

(कञ्चुकी का प्रवेश)

कञ्चुकी—महाराज! अत्यन्त आवश्यक राजकार्य्य के लिये मंत्री आपका दर्शन करना चाहते हैं।

विक्रम—धिक्कार है तुझे, धिक्कार है मंत्रीको, और धिक्कार है राजकार्य्य को! रसातल में जाय राज्य और जहन्नुम में जाय मंत्री। (कञ्चुकी का प्रस्थान)

सुमित्रा—जाओ, नाथ जाओ !

विक्रम—बार बार वही बात ! जाओ, जाओ ! काम ! काम ! क्या मैं जा सकता ही नहीं ? कौन रहना चाहता है ? हाथ जोड़कर तुमसे नाप नाप कर एक एक बूंद कृपा कौन माँगता है ? जाता हूँ, मैं अभी जाता हूँ। (जाते हुए लौटकर) अय मेरी हृदय लता ! मेरे अपराधों को क्षमा करो। आसुओं को पोछो। प्रिये, भृकुटी-कुटिल-कटाक्ष से तिरस्कृत करके मुझे दण्ड भले ही दे लो, पर उदास न हो।

सुमित्रा—महाराज ! इन बातों के लिये यह समय नहीं है—लो मैंने आँसू पोछ डाले। आप कर्त्तव्य-कार्य से विमुख न होइये।

विक्रम—हा, स्त्रियों का हृदय भी कैसा कठोर होता है ! प्रिये कोई काम नहीं है, यह व्यर्थ का उपद्रव है। वसुन्धरा धन-धान्य से परिपूर्ण है। प्रजागण सुखी हैं, राजकाज ठीक से चल रहा है। यह चतुर वृद्धमंत्री अपनी सावधानता दिखाने के लिये केवल साधारण सी बातों को तथा सामान्य विघ्न-बाधाओं को बड़ी बना डालता है।

सुमित्रा—नहीं, नहीं, देखो वह प्रजाओं के रोने का शब्द सुनाई पड़ रहा है। कातर स्वर से प्रजा पुकार रही है। अय वत्सगण ! तुम अपने को मातृ-हीन न समझो। मैं ही इस राज्य की रानी हूँ, मैं ही तुम लोगों की माता हूँ। मेरे रहते तुम लोग मातृ-हीन नहीं हो सकते।

(प्रस्थान)

चतुर्थ दृश्य

राजमहल

सुमित्रा

सुमित्रा--ब्राह्मण अब तक नहीं आया। न जाने कहाँ रह गया। दुखी प्रजाओं का कातर क्रन्दन-ध्वनि धीरे-धीरे बढ़ रही है।

(देवदत्तका प्रवेश)

देव--जय हो !

रानी--देवता, यह क्रन्दनध्वनि और कोलोहल क्यों हो रहा है ?

देव--मा ! तुम उसे क्यों सुनती हो। सुनने ही से तो कोलाहल सुनाई पड़ता है; न सुनने से कहीं कुछ नहीं है। महारानी, सुखी रहो, कान मून्द लो। क्या अन्तःपुर में भी कोलाहल पहुँच गया है ? क्या वहाँ भी शान्ति नहीं है ? कहिये तो अभी मैं सेना साथ लेकर इन फटे वस्त्र धारण करनेवाले, भूख और प्यास से तड़फते हुए कोलाहल करनेवालों को भगा दूँ।

सुमित्रा--शीघ्र कहो क्या हुआ ?

देव--कुछ नहीं-कुछ नहीं। महारानी केवल भूख ! भूख ! भूख ! हा राक्षसी भूख का ही यह सब बखेड़ा है। गँवार असभ्य दरिद्रों का दल क्षुधा की ताड़ना से चिल्ला रहा है। हा ! उन्हें इस बातका तनिक भी ज्ञान नहीं है, कि उनकी चिल्लाहट की डर से राजकुल के जितने कोकिल और पपीहा हैं, वे सब मौन हो गये हैं।

सुमित्रा--अहा ! कौन भूखा है ?

देव—महारानी ! भूखा किसे कहूँ, अभागों का भाग्य ही मन्द है, नहीं तो जिन अभागों का दिन आधे पेट खाकर बीत चुका है, उनको भी अबतक अनशन व्रतका अभ्यास नहीं हुआ। यह आश्चर्य्य नहीं तो और क्या है ?

सुमित्रा—देवता ! धरती अन्नसे परिपूर्ण है तौ भी प्रजा बिना खाए हाहाकार कर रही है, यह कैसी बात है ?

देव—महारानी, अन्न तो उसी का है जिसकी पृथ्वी है, धरती दरिद्रों की नहीं है। दरिद्र यज्ञभूमि के कुत्ते की तरह जीभ हिलाते हुए एक ओर पड़े रहते हैं, यदि भाग्य सुप्रसन्न हुआ तो कभी जूठन खाने को मिल गया, नहीं तो मार तो सदा मिलती ही है। यदि किसी ने दया की तो वेचारे जी गये, नहीं तो मरने के लिये रोते हुए राह में इधर-उधर तो घूमते ही हैं।

सुमित्रा—क्या कहा ? राजा क्या तब निर्दयी हैं ? देश क्या अराजक है ?

देव—कौन कह सकता है कि देश अराजक है। मेरी समझ में तो देश सहस्र राजक है।

सुमित्रा—तो क्या आमात्यगण राज-काज में यथोचित ध्यान नहीं देते ?

देव—ध्यान नहीं देते ! कौन कह सकता है कि ध्यान नहीं देते ! ध्यान तो खूब देते हैं। घरका मालिक सोया है, यह जानकर क्या चोरों की दृष्टि उस घर पर नहीं है। वह तो शनि की दृष्टि है, पर इसमें उनलोगों का क्या दोष है ? परदेश से वे खाली हाथ यहाँ क्या केवल सब प्रजाओं को आशीर्वाद देने के लिये आये हैं ?

सुमित्रा—वे परदेशी कौन हैं ? क्या वे मेरे ही आत्मीय हैं ?

देव—हाँ महारानी, आपही के वे आत्मीय, हैं इसलिये वे प्रजा के मामा हैं, ठीक वैसेही जैसे कंस और कालनेमि।

सुमित्रा—जयसेन ?

देव—हाँ, वह सुशासन करने ही में लगे रहते हैं, उनके प्रबल शासन से सिंहगढ़ में अन्न और वस्त्रका जितना बखेड़ा था, सब छूट गया। अब केवल अस्थि और चर्म मात्र ही बच रहा है।

सुमित्रा—शिलादित्य ?

देव—उनका ध्यान वाणिज्य उन्नति की ओर है। वणिकोंके धनके बोझको वे सदा हल्का करके अपने कन्धों पर उठा लेते हैं।

सुमित्रा—युधाजित ?

देव—अहा! वे तो बड़े ही भले आदमी हैं। सभी से मीठी मीठी बातें बोलते हैं, सबको बाबू, भैया, बच्चा कहकर पुकारते हैं पर तिरछी आँखों चारो ओर देखकर पृथ्वी की पीठ पर आदरसे हाथ फेरते हैं, उस समय हाथ में जो लग जाता है उसे बड़े यत्न से उठा लेते हैं।

सुमित्रा—हाय! यह कैसी लज्जा की बात है। कैसा घोर पाप है। मेरे ही आत्मीय मेरे ही पितृकुल के कलंक! हा! छीः छीः! इस कलंको मैं अभी दूर करूँगी, क्षण भर भी देर नहीं करूँगी।

(प्रस्थान)

पञ्चम दृश्य

देवदत्त का गृह

नारायणी घर के कामों में लगी है

देवदत्त का प्रवेश

देव—प्रिये ! घर में कुछ है ?

नारा०—हाँ, है क्यों नहीं ! मैं हूँ। वह भी न रहूँ तो आफत छूट जाय।

देव—यह कैसी बात है ?

नारा०—तुम राह से बटोर-बटोर कर इस राज्य के सब भिक्षुकों को बुला लाते हो। यहाँ तक कि घर में चूनी-भूसी भी बचने नहीं पाती और रात-दिन खटते-खटते मेरा शरीर भी अब बचता नहीं दीखता।

देव—मैं क्या शौक से उन्हें ले आता हूँ ? बात यह है कि कामों में लगी रहने से ही तुम अच्छी रहती हो। और इसी से मैं भी अच्छी तरह रहता हूँ। चाहे और कुछ लाभ हो या न हो पर तुम्हारा मुँह तो बन्द रहता है।

नारा०—हाँ अच्छा, तो लो मैं अपना मुँह बन्द कर लेती हूँ, कौन जानता था कि मेरी बातें अब तुम्हें असह्य होंगी ? तुम से कौन कहता है कि तुम मेरी बातें सुनो।

देव—तुम्हीं तो कहती हो और दूसरा कौन कहेगा ? एक बात के बदले दस बातें सुना देती हो।

नारा०—ठीक है ! मैं दस बातें सुना देती हूँ। अच्छा, अच्छा लो मैं चुप हो जाती है। मैं एक दम चुप हो जाऊँ तो

तुम्हें आराम मिले । अब क्या वह दिन है ! वह दिन गया ! अब नये मुँह की नयी बातें सुनने का शौक हुआ है, अब मेरी बातें तो पुरानी न हो गयीं ।

देव—बापरे, बाप । अरे ! फिरसे नये मुँह की नयी बात ! डर मालूम होता है । पुरानी बातों के सुनने का तो भला अभ्यास भी पड़ गया है ।

नारा०—अच्छा, अच्छा ! मेरी बातें तुम्हें इतनी बुरी लगती हैं तो लो मैं चुप हो जाती हूँ । अब मैं एक बात भी न कहूंगी । पहलेही क्यों नहीं कह दिया । मैं तो नहीं जानती थी । जानती तो क्या मैं तुम्हें–

देव—क्या मने तुमसे पहिले नहीं कहा था ? न जाने कितनी बार तो कहा है । पर कुछ असर तो हुआ नहीं ।

नारा०—हाँ ! अच्छी बात है आज से मैं चुप हो जाती हूँ जिससे तुम भी सुख से रहो और मैं भी सुख से रहूँ । मुझे क्या बकने की साध लगती है ? तुम्हारा ढंग देखकर–

देव—क्या यही तुम्हारा चुप रहना है ?

नारा०—अच्छा (मुँह फेर लेना) ।

देव—प्रिये ! प्रेयसी मधुरभाषिणी ! कोकिल–गंजिनी !

नारा०—चुप रहो ।

देव—क्रोध न करो प्रिये ! कोयल की तरह मैं तुम्हारा रंग नहीं बताता बल्कि कोयल की तरह तुम्हारा पञ्चम स्वर है ।

नारा—जाओ, जाओ, बको मत ! पर मैं तुम से इतना बता देती हूँ कि अगर तुम और भिखमंगों को बटोर लाओगे तो उन्हें झाड़ू मारकर बिदा कर.दूँगी या आपही वन में चली जाऊँगी ।

देव—ऐसा करोगी तो मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे जाऊँगा और भिक्षुक लोग भी मर जायँगे।

नारा०—सच है, ढेंकी को स्वर्ग में भी सुख नहीं मिलता।

(नारायणी का प्रस्थान)

(माला जपते हुए त्रिवेदी का प्रवेश)

त्रिवेदी—शिव, शिव, शिव। क्यों जी तुम राजपुरोहित न हुए हो?

देव—हाँ हुआ तो हूँ। परन्तु आप इससे क्रोध क्यों करते हैं? मैं उसके लिये कुछ साधना तो करता नहीं था। पुरोहिताई पाने के लिये मैंने न तो कभी माला ही फेरी और न कभी मनौती ही मानी। पर राजा की मर्ज़ी, इसमें मेरा क्या दोष है?

त्रिवेदी—पिपीलिका का पक्षच्छेद हुआ है, घबड़ाओ मत। श्रीहरिः श्रीहरिः!

देव—मुझ पर क्रोध करके आप शब्द-शास्त्र के प्रति ऐसा अत्याचार क्यों कर रहे हैं? पक्षच्छेद नहीं पक्षोद्भेद।

त्रिवेदी—यह एक ही बात है। छेद और भेद में कुछ अन्तर नहीं है; लोग कहते ही हैं छेद, भेद! श्री हरिः! जो हो तुम्हारी बुढ़ौती अब आ गई है, इसमें सन्देह नहीं।

देव—मेरी ब्राह्मणी साक्षी है, अभी मेरा यौवन बीता नहीं है।

त्रिवेदी—मैं भी तो यही कहता हूँ। जवानी के घमण्ड से ही तुम्हारी इतनी बुढ़ौती आगई है इसलिये अब तुम मरोगे, इसमें सन्देह नहीं। श्रीहरिः, दीनबन्धो!

देव—ब्राह्मण की बात मिथ्या नहीं होगी। मैं मरूँगा पर इसके लिये आपको विशेष आयोजन नहीं करना होगा,

स्वयं यम विद्यमान हैं। त्रिवेदी जी ! तुम्हारी अपेक्षा कुछ उनसे मेरी अधिक नातेदारी भी तो नहीं है। सभी पर उनका समान दृष्टि है।

त्रिवेदी—पर तुम्हारा काल बहुत नज़दीक आगया है। दयामय श्री हरिः।

देव—इसे मैं कैसे जान सकता हूँ। हाँ यह तो देखने में आता है कि आजकल मरते हैं बहुत आदमी। कोई गले में फाँसी लगाकर मरते हैं, कोई जल में डूबकर मरते हैं, कोई सांप के काटने से भी मरते हैं पर ब्रह्मशाप से मरता कोई दिखाई नहीं पड़ता। हाँ ब्राह्मणों के लट्ठ से किसी किसी को मरते सुना है। परन्तु ब्राह्मणों की बातों से किसी को मरते नहीं सुना। इसलिये यदि म शीघ्र न मर सकूँ, तो इससे आप क्रोध मत कीजिये। क्योंकि यह हमारा दोष नहीं है, समय का दोष है !

त्रिवेदी—प्रणिपात ! शिव, शिव, शिव !

देव—और कुछ चाहिये ?

त्रिवेदी—नहीं। केवल यही ख़बर तुम्हें सुनाने आया था। दयामय श्रीहरि ! हाँ जी क्या तुम्हारे घर पर कुछ अधिक कुँहड़े फले हैं ? दो-एक मुझे दे सकते हो—मुझे आवश्यकता है।

देव—हाँ लाये देता हूँ।

(प्रस्थान)

षष्ठ दृश्य

अन्तःपुर-पुष्पोद्यान

विक्रमदेव, राजाका मामा, वृद्ध अमात्य

विक्रम—यह सब मिथ्या अभियोग है, झूठी बातें हैं, मैं जानता हूँ, युधाजित, जयसेन, उदयभास्कर बड़े ही लायक हैं। अगर उन लोगों का कोई अपराध है तो यही कि वे 'विदेशी' हैं। बस इसी से प्रजाओं के मन में विद्वेष की आग रात-दिन सुलगा करती है। और उसी आग से निन्दारूपी काला-काला धुवाँ उठा करता है।

अमात्य—महाराज! ऐसा नहीं है। उनके विरुद्ध सहस्रों प्रमाण हैं, आप विचार करके देख लीजिये।

विक्रम—प्रमाण की क्या आवश्यकता है? यह विशाल साम्राज्य विश्वास के ही बल पर चल रहा है। जिसके ऊपर जिस काम का भार दे दिया गया है वह उसे यत्न से पालन कर रहा है। फिर तौ भी प्रतिदिन उनकी निन्दा सुनकर उनका विचार करना होगा? यह राजधर्म्म नहीं है। आर्य आप जाइए, मेरे विश्राम में विघ्न न डालिए।

अमात्य—मंत्री ने मुझे भेजा है, और राजकाज के किसी बहुत ही गम्भीर विषय पर परामर्श करने के लिये उसने आप के दर्शन की प्रार्थना की है।

विक्रम—राज और राज्य कार्य्य कहीं भागा नहीं जाता, परन्तु यह सुमधुर अवसर कभी ही कभी दिखाई पड़ता है, जो अत्यन्त भीरु और सुकुमार है, वह फूलों की तरह खिल उठता

है, समय बीतने के पहिले ही झर जाता है । इसलिये कौन ऐसा अभागा है जो उसे अकाल में ही चिन्ता में पड़कर तोड़ना चाहेगा ? आर्य्य ! आप विश्राम को भी कर्त्तव्य-कर्म का एक अंग ही समझिये ।

अमात्य—(उदास होकर) महाराज ! तब मैं जाता हूँ ।

(प्रस्थान)

(रानी के आत्मीय अमात्य का प्रवेश)

अमात्य—महाराज ! विचार कीजिये ।

विक्रम—किस बात का विचार ?

अमात्य—सुनता हूँ कि हम निर्दोषियों के नाम मिथ्या अभियोग लगाया जा रहा है ।

विक्रम—हो सकता है । किन्तु जब तक मैं तुम लोगों पर विश्वास रखता हूँ तब तक तुम निश्चिन्त रहो । जब तुम्हारे ऊपर से मेरा विश्वास उठ जायगा उस दिन मैं स्वयं सत्य और मिथ्या का विचार करूँगा । इस समय जाओ ।

(अमात्य का प्रस्थान)

विक्रम—हाय ! यह मानव-जीवन कष्टों से कैसा परिपूर्ण है । पग-पग पर नियमों की शृंखला बाधा पहुँचाती है । अपने ही बनाए जाल में मनुष्य आपही फँसता है । अस्थि-पञ्जर के पींजड़े में आकांक्षा-रूपी अशान्त पक्षी तड़फड़ा रहा है । ऐसी जटिल अधीनता क्यों है ? इतनी आत्म-पीड़ा क्यों है ? ऐसा कठोर कर्त्तव्य-कारागार क्यों बनाया गया है ? हे माधवीलता ! हे वसन्त की आनन्द मञ्जरी ! तू ही सुखी है ! प्रभात के प्रकाश में तू खिलती है । रात्रि में शिशिर-बिन्दु तुझे सरस करते हैं;

अपनी ही सुगन्ध, अपनी ही मधु से प्रसन्न होकर तू भौंरों की गीत सुनती है । स्निग्ध पल्लवों पर शयन करती हुई तुझे वायु के झोंके झूला झुलाते हैं । अपने सौन्दर्य की शोभा विस्तार करती हुई तू सुनील आकाश को देखती है, अन्त में धीरे-धीरे कोमल हरी-हरी दूबों पर आपही आप झरकर गिर पड़ती है। तर्क और नियम के जटिल जाल तुझे पीड़ा नहीं दे सकते । रात को नींद में संशय-रूपी सर्प तेरे मर्म स्थानों को नहीं डसते। निराश प्रणय का निष्फल आवेग तुझे सहना नहीं पड़ता ।

(सुमित्रा का प्रवेश)

कठोरहृदये ! क्या तुम्हें दया आई ? संसार का जितना काम था होगया ? क्या इसी से सब के अन्त में इस दास का स्मरण हुआ है ? हे प्रिये, क्या तुम नहीं जानती कि सब कर्त्तव्यों से बढ़कर प्रेम है ?

सुमित्रा—हाय ! मुझे धिक्कार है। हे नाथ, मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ, मैं जो तुम्हें छोड़कर जाती हूँ यह तुम्हारे ही प्रेम से । महाराज, इस दासी की विनती सुनिये। इस राज्य के प्रजाओं की मैं माता हूँ, माता होकर अभागे सन्तानों का करुण क्रन्दन मुझ से नहीं सुना जाता। प्रभो ! दुःखी प्रजाओं की आप रक्षा कीजिये ।

विक्रम—रानी तुम क्या चाहती हो ? कहो ।

सुमित्रा—मेरी प्रजा को जो सता रहे हैं, इस राज्य से उन को निकाल दीजिए ।

विक्रम—वे कौन हैं ? क्या जानती हो ?

सुमित्रा—हाँ, जानती हूँ ।

विक्रम—वे सब तुम्हारे ही आत्मीय हैं।

सुमित्रा—नहीं महाराज ! मेरे सन्तानों की अपेक्षा वे मेरे अधिक आत्मीय नहीं हैं। इस राज्य में जितने अनाथ, आर्त और भूखे हैं वे ही मेरे आत्मीय हैं। जो राज-छत्र की छाया में छिपकर शिकार की ताक में बैठे हैं वे डाकू और चोर हैं।

विक्रम—वे युधाजित, शिलादित्य और जयसेन हैं।

सुमित्रा—इसी समय उन्हें दूर कर दो।

विक्रम—वे यहाँ ऐश व आराम करते हैं, बिना युद्ध के वे एक पग भी नहीं हटेंगे।

सुमित्रा—तब उनसे युद्ध ही कीजिये।

विक्रम—युद्ध ! हा नारी ! क्या तुम्हारा यही स्त्रियोचित हृदय है ? अच्छा मैं युद्ध में जाऊँगा। परन्तु उसके पहिले तुम तो अधीनता स्वीकार करो। धर्माधर्म, अपना-पराया, संसार का सब काम छोड़कर, तुम केवल हमारी ही होजाओ, तब मैं तुम्हारे प्रेम से तृप्त होकर विश्वराज्य जीतनेके लिये निकलूँगा। पर जब तक तुम मुझे अतृप्त रखोगी, तब तक मेरा मन तुम्हारे पीछे अदृष्टकी तरह फिरा करेगा।

सुमित्रा—महाराज ! तो मुझे आज्ञा दीजिये, मैं ही प्रजाओं की रक्षा करूं। (प्रस्थान)

विक्रम—इसी तरह तो तुम मुझे व्याकुल कर रही हो ! तुम अपने महत्व के उच्च शिखर पर अकेली बैठी हो, मैं तुम्हें पा नहीं रहा हूँ। इसी से रात-दिन मैं तुम्हें पाना चाहता हूँ। तुम काम करने जाती हो, और मैं तुम्हें खोजता फिरता हूँ। हा, हमारा तुम्हारा कभी पूर्ण मिलन होगा या नहीं ?

(देवदत्त का प्रवेश)

(महाराज को देखकर चकित होकर)

देव—जय हो महारानी! महारानी कहाँ हैं? महाराज, आप यहाँ अकेले क्यों बैठे हैं।

विक्रम—तुम यहाँ किस लिये आये हो? ब्राह्मण का षडयंत्र अन्तःपुर में चल रहा है। अच्छा बताओ, राज्य का समाचार रानी से किसने कहा?

देव—राज्य का समाचार राज्य ने आपही दिया है। पीड़ित राज्य बिलख-बिलखकर रो रहा है। वह क्या कभी सोच सकता है कि उसके विलाप से आपके विश्राम में बाधा पड़ेगी? महाराज! डरो मत, मैं रानी के पास कुछ थोड़ी सी भिक्षा माँगने आया हूँ। ब्राह्मणी बड़ी ही अप्रसन्न है। घरमें अन्न का एक दाना भी नहीं है और भूख की भी कमी नहीं है।

विक्रम—सुखी हों! भगवन्, इस राज्य के सबलोग सुखी हों! क्यों इतना दुःख है? क्यों इतनी पीड़ा है? इतना अत्याचार, इतना उत्पीड़न, इतना अन्याय लोग क्यों करते हैं। मनुष्य मनुष्य को इतना क्यों सताते हैं! दुर्बलों के तनिक से सुख, तनिक सी शान्ति पर सबल बाज़ की तरह क्यों झपटते हैं? चलकर देखूँ, शान्ति का कुछ उपाय हो सकता है या नहीं।

सातवाँ दृश्य

मंत्रणा-गृह

विक्रमदेव और मंत्री

विक्रम—इसी समय सब विदेशी लुटेरों को राज्य से निकाल दो। सदा दुःख! सदा भय! समस्त राज्य में केवल विलाप सुनाई पड़ता है। बस अब ऐसा करो जिसमें पीड़ित प्रजा का आर्तनाद कभी सुनाई न पड़े।

मंत्री—महाराज! इसके लिये धैर्य्य की आवश्यकता है। कुछ दिनों तक श्रीमान् का ध्यान जब तक सब ओर नहीं जायगा, तब तक यह भय, शोक, विशृंखला दूर नहीं होगी। अन्धकार में बहुत दिनों से अमंगल बढ़ा है। एक दिन में उसे दूर कैसे किया जा सकता है।

विक्रम—जैसे सैकड़ों वर्ष के पुराने साखू के वृक्ष को लकड़हारा एक दिन में काटकर गिरा देता है, उसी प्रकार मैं एक ही दिन में उपद्रव को जड़ से नाश कर देना चाहता हूँ।

मंत्री—परन्तु इसके लिये अस्त्र और सैन्य चाहिये।

विक्रम—क्यों? सेनापति कहाँ हैं।

मंत्री—सेनापति स्वयं विदेशी हैं।

विक्रम—लाचारी है। तब दुःखी प्रजाओं को बुलाओ और उनका मुहँ खाद्य पदार्थ दे कर बन्द करो। धन देकर उन्हें बिदा कर दो। वे जहाँ जाने से सुखी हों, इस राज्य को छोड़ कर चले जायँ।

(राजा का प्रस्थान)

(देवदत्त के साथ सुमित्रा का प्रवेश)

सुमित्रा—मैं इस राज्य की रानी हूँ। तुम क्या इस राज्य के मंत्री हो?

मंत्री—माता, प्रणाम! मैं आपका सेवक हूँ। माता! अन्तःपुर छोड़कर इस मंत्रणा-गृह में आने का कष्ट आपने क्यों किया?

सुमित्रा—प्रजाओं का रोदन सुनकर मैं अन्तःपुर में रह न सकी। इसलिये यहाँ उसका प्रतिकार करने आई हूँ।

मंत्री—सेवक के प्रति जो आज्ञा हो दीजिये।

सुमित्रा—इस राज्य में जितने परदेशी शासक हैं, उन्हें मेरे नाम से बहुत शीघ्र बुला भेजो।

मंत्री—एकाएक इस प्रकार बुला भेजने से उनके मनमें सन्देह उत्पन्न होगा, जिससे उनमें से कोई भी न आवेंगे।

सुमित्रा—क्या रानी की आज्ञा भी न मानेंगे?

देव—लोग कहते हैं कि राजा रानी सबको वे भूल गये हैं।

सुमित्रा—काल-भैरव की पूजा के दिन उस विशेष उत्सव के उपलक्ष में उनको निमंत्रण भेजो। उस दिन उनका विचार किया जायगा। मदान्ध होकर यदि वे दण्ड स्वीकार न करें, तो उनको दमन करने के लिये पास ही सेना तैयार रखना।

देव—दूत बनाकर किसे भेजियेगा?

मंत्री—त्रिवेदीजी को। उनसे बढ़कर निर्बोध, सरल चित्त और धार्मिक ब्राह्मण दूसरा कोई नहीं मिलेगा। उन पर किसी को सन्देह नहीं होगा।

देव—त्रिवेदीजी सरल हैं? उनको सरल कौन कहता है, निर्बुद्धि ही उनकी चतुराई है। सरलता ही उनकी कुटिलता का सहारा है।

अष्टम दृश्य

त्रिवेदी की कुटी

मंत्री और त्रिवेदी

मंत्री—त्रिवेदीजी ! आप समझ गये होंगे। यह काम आपके सिवा किसी दूसरे को नहीं दिया जा सकता।

त्रिवेदी—हाँ, यह मैं समझता हूँ। श्रीहरि ! पर मंत्रीजी, काम के समय तो मुझे बुलाते हो और पुरोहिताई देने के समय देवदत्त की खोज होती है, इसका क्या कारण है ?

मंत्री—त्रिवेदीजी ! तुम तो जानते ही हो, देवदत्त वेदज्ञ ब्राह्मण हैं। उनसे तो कुछ काम हो नहीं सकता। वह तो मंत्रोच्चारण करके बस घण्टा हिलाना ही जानते हैं।

त्रिवेदी—क्यों, वेदों पर क्या मेरी भक्ति किसी से कम है ? मैं वेद की पूजा करता हूं, इसी से वेद पढ़ने की सुविधा नहीं होती। क्योंकि चन्दन और सिन्दूर से मेरा उसका एक अक्षर भी देखना कठिन है। अच्छा आज ही मैं जाऊँगा। श्रीहरि ! मधुसूदन !

मंत्री—क्या कहोगे ?

त्रिवेदी—मैं कहूँगा कालभैरव की पूजा है, इसीसे राजा ने तुम्हें निमंत्रण दिया है—मैं खूब बड़े बड़े अलङ्कारों के सहित कहूँगा। सब बातें इस समय याद नहीं आतीं, राह में जाते जाते सोच लूंगा। श्रीहरि ! तुम्हीं सत्य हो !

मंत्री—त्रिवेदीजी ! जाती समय एक बार मुझसे मिल लेना

(मंत्री का प्रस्थान)

त्रिवेदी—मैं निर्बोध हूँ; मैं दूध पीता बच्चा हूँ, मैं तुम्हारा काम निकालने वाला बैल हूँ। पीठ पर बोरा, नाक में नकेल, होने से न कुछ सोचेगा न कुछ समझेगा, केवल पूँछ ऐंठने से चलेगा और साँझ को तुम थोड़ासा भूसा उसे खाने को दे दोगे। श्रीहरि! तुम्हारी ही इच्छा, अच्छा देखूंगा कौन कितना समझता है। (नेपथ्य की ओर देखकर) अरे! अभी तक पूजा की सामग्री नहीं लाया! देर हो रही है। नारायण! नारायण!

द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य

सिंहगढ़—जयसेन का महल

जयसेन, त्रिवेदी और मिहिर गुप्त

त्रिवेदी—हाँ जी! अगर तुम इस प्रकार आँखें लाल करोगे तो मुझे जो कुछ कहना है मैं भूल जाऊँगा, भक्तवत्सल श्रीहरि! देवदत्त और मंत्री ने मुझे बहुत कुछ सिखाकर भेजा है। हाँ मैं क्या कहता था? हमारे राजा कालभैरव के पूजाके उपलक्ष में—

जय०—उपलक्ष में?

त्रिवेदी—हाँ, उपलक्ष ही सही, इसमें दोष क्या हुआ? हे मधुसूदन! पर हाँ, इसमें तुम्हें सन्देह हो सकता है सही। क्यों

कि उपलक्ष शब्द कुछ कठिन है, मैं देखता हूँ कि उसका यथार्थ अर्थ करने में बहुतों की बुद्धि चकरा जाती है।

जय०—आप ठीक कहते हैं। पण्डितजी, उसका यथार्थ अर्थ ही मैं सोच रहा हूँ।

त्रिवेदी—रामनाम सत्य! तो जाने दो भाई, उपलक्ष न कहकर उपसर्ग ही कहो। शब्दों का भला कौनसा अभाव है? शास्त्र कहता है कि शब्द ब्रह्म है। इसलिये चाहे उपलक्ष कहो चाहे उपसर्ग कहो, अर्थ दोनों का एक ही है।

जय०—ठीक है। राजा ने हमलोगोंको बुलाया है उसका उपलक्ष उपसर्ग मात्र तो समझ गया। परन्तु उसका यथार्थ कारण क्या है, ज़रा समझाकर बताइये।

त्रिवेदी—भाई उसे समझाकर मैं नहीं कह सकता, उसको मुझे समझाकर किसीने नहीं बताया। श्रीहरि!

जय०—ब्राह्मण देवता! तुम बड़े कठिन स्थान में आये हो। समझ लो अगर एक बात भी छिपाओगे तो विपत्ति में पड़ जाओगे।

त्रिवेदी—हे भगवन्! हाँ भाई देखो तुम इस प्रकार बात बात में क्रोध न करो, तुम्हारा स्वभाव निरा मत्त मधुकर की तरह तो नहीं जान पड़ता।

जय०—अधिक बक-बक मत करो, यथार्थ कारण जो कुछ तुम जानते हो कह डालो।

त्रिवेदी—वासुदेव! सभी वस्तुओं का क्या यथार्थ कारण होता है? और यदि हो भी तो क्या सब लोग उसे जानजाते हैं? जिन लोगों ने चुपचाप परामर्श किया है, वही जानते हैं; मंत्री जानते हैं; देवदत्त जानते हैं। हाँ भाई, तुम

अधिक चिन्ता न करो, मैं समझता हूँ वहाँ जाने ही से तुम्हें यथार्थ कारण मालूम हो जायगा ।

जयसेन—मंत्री ने तुम से और कुछ नहीं कहा है ?

त्रिवेदी—नारायण ! नारायण ! तुम्हारी सौगन्ध उसने मुझ से कुछ नहीं कहा है । मंत्री ने कहा "त्रिवेदी जी देखो जो कुछ मैंने कहा है उसके अतिरिक्त कुछ भी न कहना । देखो, तुम्हारे ऊपर उनलोगों का ज़रा भी सन्देह न हो । मैंने कहा–राम राम, सन्देह भला क्यों होगा ? पर हाँ...कहा नहीं जा सकता। क्यों कि मैं तो सरल चित्त से सब कह जाऊँगा, पर जो सन्देह करते हैं वह करेंगे" श्रीहरि ! तुम्ही सत्य हो ।

जय०—पूजाके उपलक्ष में निमंत्रण है यह तो साधारण बात है, इसमें भला सन्देह करने की क्या बात है ?

त्रिवेदी—तुम लोग बड़े आदमी हो, तुम लोगों को ऐसा हो सकता है ? नहीं तो "धर्मस्य सूक्ष्मागतिः" क्यों कही जाती है ? यदि तुम लोगों से कोई आकर कहे "आ रे दुष्ट तेरा सिर फोड़ दू " बस तुरत तुमलोगों को जान पड़ेगा कि और जो कुछ हो यह आदमी धोखा नहीं देगा, सिर के ऊपर वास्तव में इसकी नज़र है । पर अगर कोई कहे " आओ तो भैया ! धीरे धीरे तुम्हारे पीठ पर हाथ फेर दूँ । " बस तुरत तुम लोगों को सन्देह हो जायगा, मानों सिर फोड़ देने की अपेक्षा पीठ पर हाथ फेरना अधिक बुरा है । हे भगवन् ! यदि राजा साफ साफ कहला भेजते कि, एक बार मेरे पास आओ तो सही ! तुम लोगों में से हर एक को पकड़-पकड़ कर राज्य से निकाल दूँ तो तुम लोग ज़रा भी सन्देह न करते वरं समझते कि राजकन्या से विवाह कर देने ही के लिये राजा ने बुलाया है। परन्तु राजा ने ज्योंही कहला भेजा कि–हे बान्धवो " राजद्वारे

श्मशानेच यः तिष्ठति सः बान्धवः " "अतएव तुमलोग पूजाके समय यहाँ आकर किंचित फलाहार कर जाओ" त्योंही तुम लोगों को सन्देह हुआ कि वह फलाहार न जाने कैसा होगा। हे मधुसूदन! पर हाँ, ऐसा होता ही है। बड़े आदमियों को साधारण बातों में सन्देह होता है और साधारण आदमियों को बड़ी बातों में सन्देह होता है।

जय०—पण्डित जी! तुम बड़े ही सरल चित्त के आदमी हो। मुझे जो कुछ सन्देह था, तुम्हारी बातों से जाता रहा।

त्रिवेदी—हाँ, तुमने ठीक बात कही है। मैं तुम लोगों की तरह चतुर नहीं हूँ। सब बातों के तह तक नहीं पहुँच सकता, परन्तु भाई सब पुराणों और संहिताओं में जिसको कहते हैं "अन्ये परेका कथा" उसी के अनुसार चलता हूँ अर्थात् दूसरों के पचड़े में कभी नहीं रहता।

जय०—और किस-किसको निमंत्रण देने के लिये तुम आए हो?

त्रिवेदी—तुमलोगों का विकट नाम मुझे याद नहीं रहता। तुमलोगों का काश्मीरी स्वभाव जैसा है वैसा ही तुमलोगों का नाम भी विकट है, हाँ इस राज्य में तुम्हारे गोल के जितने आदमी हैं सभी की बुलाहट है। शिव! शिव! कोई बाक़ी न रह जायगा।

जय०—अच्छा पण्डितजी, अब आप जाइये, विश्राम कीजिये।

त्रिवेदी—जो हो, तुम्हारे मन का सन्देह दूर होगया। यह सुनकर मंत्री बहुत ही प्रसन्न होंगे। श्रीहरि, मुकुन्द, मुरारे!

(प्रस्थान)

जय०—मिहिर गुप्त, सब बातें तो तुम समझ ही गये ? अब गौरसेन, युधाजित, उदयभास्कर, इन लोगों के यहाँ शीघ्र कहला भेजो कि सब लोग तुरत इस विषय पर परामर्श करने के लिये एकत्रित हों ।

मिहिर—जो आज्ञा ।

द्वितीय दृश्य

अन्तः पुर

विक्रमदेव और रानी के आत्मीय सभासद गण

सभासद—धन्य महाराज ! आप धन्य हैं ।

विक्रम—यह धन्यवाद मुझे क्यों दे रहे हो !

सभासद—महान् पुरुषों की कृपा सब पर होती है महत्व का यही लक्षण है । आप के सेवक जयसेन, युधाजित् इत्यादि जो प्रवास में पड़े हैं, उनको भी आपने महोत्सव में याद किया है । जिसके कारण वे बड़े ही आनन्दित हैं और वे अपने दलबल के सहित शीघ्र ही यहाँ आ रहे हैं ।

विक्रम—इस छोटी सी बात के लिये इतना यशोगान करने की क्या आवश्यकता है ! मैं तो यह भी नहीं जानता कि इस महोत्सव में किसे किसे निमंत्रण दिया गया है ।

सभासद—सूर्य्य के उदयमात्र से ही संसारकी सब वस्तुएँ आलोकित हो जाती है । इसके लिये उसे कुछ परिश्रम और उद्योग नहीं करना पड़ता और न इससे उसका कुछ हानि लाभ ही होता है । वह भी यह नहीं जानता कि उसकी कनक-किरण से कहाँ पर कौन से वृक्ष के नीचे कौनसा बनफूल आनन्द से